तृतीय अध्याय का सार-संक्षेप

तीसरे अध्याय का आरम्भ अर्जुन के उलाहनायुक्त जिज्ञासा से होता है। वे पहले जनार्दन तथा पुनः केशव सम्बोधित कर श्रीकृष्ण से जानना चाहतें हैं कि यदि उन्हें कर्म की अपेक्षा ज्ञान अधिक श्रेष्ठ लगता है तो उन्हें वे भयंकर कर्म (युद्ध) करने के लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं? अर्जुन यह भी कहते हैं आपकी भाषा मोहित करने वाली तथा मिली-जुली सी होने के कारण मुझे स्पष्ठ नहीं है, अतः आप सुनिश्चित करके बताइये कि मेरे लिये कौन सा मार्ग श्रेयस्कर है; कर्म का अथवा ज्ञान का? उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि यद्यपि परमात्मा की प्राप्ति रूपी **परमनिष्ठा** एक ही है किन्तु इसकी प्राप्ति दो निष्ठाओं अर्थात् विधाओं से हो सकती है। पहली निष्ठा **सांख्य योगियों** के लिये **ज्ञानयोग** से तथा दूसरी निष्ठा **योगियों** के लिए **कर्मयोग** से है। वे यह भी कहते हैं कि इन निष्ठाओं के सम्बन्ध में मैं **पुरा** अर्थात् सृष्टि के आदि में तथा अभी तुमसे संवाद करते हुए पूर्व के दूसरे अध्याय में (श्लोक 39@1) भी कह चुका हूँ। गीतोपदेश प्रारम्भ करने के उपरान्त सृष्ठि के आदि में योग निष्ठाओं के बारे में कहने की बात कहकर श्रीकृष्ण पहली बार अपने भगवद्स्वरूप का परिचय स्वयं देते हैं कि वे मर्त्य मनुष्य, देवकी पुत्र अथवा नन्दलाल नही हैं बल्कि सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं।

सांख्यनिष्ठा, निवृत्ति मार्ग की है जो चिन्तन-मनन शील तथा अन्तर्मुखी साधकों के लिये तथा **योगनिष्ठा,** प्रवृत्ति मार्ग की है जो पुरुषार्थी, उद्यमी तथा बहिर्मुखी साधकों के लिये है तथा ये दोनों ही निष्ठायें **परमनिष्ठा** के लिये स्वतन्त्र साधन हैं। इसी क्रम में इन निष्ठाओं से कर्मों के सम्बन्ध को लेकर श्रीभगवान् एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि कर्मों का आरम्भ किए बिना मनुष्य न तो योगनिष्ठा को प्राप्त कर सकता है और न कर्मों के त्याग मात्र से सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त कर सकता है, मनुष्य क्षण मात्र के लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता तथा क्रिया केवल प्रकृति में ही होती है। इस कारण मनुष्य जो पारमार्थिक रूप से आत्मा ही है प्रकृति के साथ अपने तादात्म्य के कारण प्रकृति जन्य गुणों से अवश होकर कर्म करता है। यह बात अवश्य है कि वर्णाश्रमोचित कर्मों का स्वरूप से त्याग न करके सांख्यनिष्ठा में कर्म किये भी जा सकते हैं और कर्मों का किसी सीमा तक त्याग भी किया जा सकता है। यदि कोई मनुष्य अपनी

इन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है तो उसे मिथ्याचारी की संज्ञा देते हुए **कर्मयोग** के अनुरूप आचरण करने का उपदेश किया गया है। श्रीभगवान् का कथन है **जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को वश में करके आसक्ति रहित होकर, निष्काम भाव से कर्मेन्द्रियों अर्थात् समस्त इन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।** कर्म की तो सदैव अनिवार्यता है; क्योंकि कर्म किये बिना तो शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता।

परमात्मा का सृष्टि रचना में संलग्न रूप **प्रजापति, प्रजापति ब्रह्मा** अथवा **ब्रह्मा** कहलाता है। प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं अर्थात् मनुष्य आदि की रचना साथ-साथ करते हुए मनुष्यों से यज्ञार्थ कर्म करते रहने को कहा; **क्योंकि इस आचरण से तुम्हारी अभिवृद्धि होगी और यज्ञ से तुम लोगों को इच्छित भोगों की प्राप्ति होगी; इस प्रकार तुम दोनों (प्रजा तथा यज्ञ) एक दूसरे को उन्नत करो। यज्ञ** का तात्पर्य मात्र हवनादि कर्मों से न होकर निःस्वार्थ भाव से कर्तव्य-कर्म एवम् लोकहितार्थ कर्म करने से है।

इस अध्याय में सृष्टि चक्र का बड़े ही सुन्दर विधि से वर्णन करते हुये कहा गया है कि समस्त भूत प्राणियों की उत्पत्ति अन्न से, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से तथा वृष्टि यज्ञ से होती है; यज्ञ विहित कर्मों से सम्पन्न होता है, कर्म समुदाय वेद से तथा वेद अविनाशी ब्रह्म से प्रकट होता है और वह सर्वव्यापी ब्रह्म (परमात्मा) यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) में सदा ही प्रतिष्ठित है। गीता के अनुसार मनुष्य के लिये स्वधर्म रूपी शास्त्र विहित कर्तव्य-कर्मों के साथ ही तप, दान और हवनादि-पंच महायज्ञ क्रियायें **यज्ञ** की परिधि में आती हैं। पंच महायज्ञ के अन्तर्गत देवताओं के लिए अग्निहोत्र, ऋषियों के वेद वचनों का प्रचार, पितरों के लिये श्राद्ध-तर्पण, जीवित माता-पिता-बन्धुओं की परिचर्या तथा समस्त अन्य प्राणियों की अन्नादि से सेवा का कार्य आता है। मनुष्य से उसके जीवन में अनजान में जो हिंसा तथा अपकर्म हो जाते हैं, पंच महायज्ञ से उनका प्रायश्चित होता है। सृष्टि के समस्त प्राणियों के भरण-पोषण तथा संरक्षण का कर्तव्य मनुष्य का ही है अतः **यज्ञ** ये तात्पर्य तथा संकेत सम्पूर्ण लोक के कल्याण हेतु मनुष्य द्वारा की जाने वाली समस्त शास्त्र विहित कर्मों से है। यज्ञ का आधार त्याग वृत्ति है क्योंकि हवन में समिधा का; दान में धन-सम्पति का तथा सेवा और स्वधर्म रूपी कर्त्तव्य-कर्म के पालन में समय, स्वार्थ और मोह का त्याग होता है।

श्रीभगवान् अर्जुन को आसक्ति रहित होकर अपने कर्तव्य-कर्मों का भली प्रकार से आचरण करने की शिक्षा देते हुए इसे परमात्मा के प्राप्ति का साधन बताते हैं। इसके लिये वे राजर्षि जनक आदि का उदाहरण देते हैं जिन्होंने आसक्ति रहित कर्म (निष्काम कर्मयोग) द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त किया। यहाँ **लोक संग्रह** पर विशेष बल दिया गया है। **लोक** से तात्पर्य केवल इस लोक में रहने वाले मानव जाति से न होकर सम्पूर्ण सृष्टि संतुलन से है।

समाज में सभी लोग; जिसे श्रेष्ठ मानते हैं उसी के आचरण को तथा उसके बताये वचनों को प्रमाण मानकर उसे ही अपनाते हैं और पालन करते हैं। श्रेष्ठ महापुरुषों का आचरण तथा प्रमाण लोकसंग्रह के लिये इतना महत्त्वपूर्ण है कि श्रीभगवान् यह कहते हुए अपने जीवन का रहस्य प्रकट करते हैं कि **मुझे तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, इसके उपरान्त भी मैं लोक प्रेरणा के लिये कर्म करने में ही लगा रहता हूँ।** महाभारत संग्राम की अवधि में श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी के कर्तव्य के निर्वहन के साथ ही अपने अश्वों की देखभाल करते हैं, उन्हें भोजन देते हैं, खरहरा करते हुए उन्हे विश्राम कराते हैं तथा पाण्डवों के साथ सायंकाल प्रत्येक शिविर में जाकर योद्धाओं का कुशल क्षेम जानते हैं और घायलों की सेवा-सुश्रुषा भी करते हैं। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन काल में दुष्टों तथा राक्षसों के दमन के साथ ही गुरु के शिष्य, मित्र, गृहस्थ, पति तथा उपदेशक आदि सभी रूपों में अपना उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार अपने वर्ण, आश्रम, देश-काल, परिस्थिति के अनुसार सभी को लोक कल्याण के लिये कर्म करते रहना चाहिए।

सृष्टि रचना का मूल श्रोत जिसमें तीन गुण (सत्व, रज तथा तम्) सन्निविष्ट हैं तथा जो परमात्मा की मिथ्या अज्ञानात्मिका शक्ति है, 'प्रकृति' या 'माया' कही जाती है। प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम् ये तीनों गुण ही पंच महाभूत, इन महाभूतों के पाँच गुण/विषय, पंच कर्मेन्द्रियों, पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण जिसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार आते हैं इन चौबिस तत्त्वों के रूप में परिणित होते हैं तथा ये चौबिस तत्त्व भी प्रकृति के गुण ही कहे जाते हैं। निगुर्ण निराकार आत्मा अक्रिय तथा अक्रियाशील है तथा संसार की सम्पूर्ण क्रियायें प्रकृति/माया के गुणों द्वारा ही की जाती हैं। इस रहस्य को न समझकर जो मनुष्य विमूढ़ होकर कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा होने वाली

प्रत्येक क्रिया में अपने को कर्ता-भोक्ता मान लेता है वह **अज्ञानी** है। जो पदार्थ जिस रूप में है उसको उसी रूप में जो जानता है वह 'तत्त्ववित्' है। प्रकृति/माया के कार्य रूप पंच महाभूत, इन पंच महाभूतों के पाँच विषय, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ इन सभी के समुदाय को गुण विभाग तथा इनकी परस्पर चेष्टाओं का नाम कर्म विभाग है। इनमें से भी पंच महाभूत तथा उनके पाँच विषय कुल दस 'कार्य' और शेष चौदह 'करण' कहे जाते हैं। जो मनुष्य गुण-विभाग और कर्म-विभाग को तत्त्व से जानता है तथा सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तन कर रहें है ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता, निर्लिप्त रहता है वह **ज्ञानी** महापुरुष है।

तीसवें श्लोक में श्रीभगवान् गीता का प्रयोजन स्पष्ट रूप से उद्‌घोषित करते हैं कि मनुष्य को अध्यात्मचित्त से युक्त होकर सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों को उन्हें अर्पित करके, आशारहित, ममता रहित और सन्ताप रहित होकर जीवन संग्राम के सभी कर्तव्य-कर्मो को करना चाहिए। यहाँ उन्हीं से तात्पर्य देवकी पुत्र श्रीकृष्ण से न होकर शुद्ध परमात्मस्वरूप से है। तीसवें श्लोक में भक्ति योग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का अद्‌भुत समन्वय है।

जन्म-जन्मान्तर में किये हुए कर्मों के संस्कार जो स्वभाव रूप में प्रकट होते हैं उसे भी प्रकृति कहते हैं अर्थात् प्रकृति या स्वभाव वह मानसिक अभिव्यक्ति है जिसके साथ मनुष्य जन्म लेता है, सभी प्राणी अपने प्रकृति के परवश हुए कर्म करते हैं, यह सिद्धान्त है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का उपयोग प्रकृति द्वारा सीमित अवश्य है किन्तु मनुष्य के पास पुरुषार्थ का पर्याप्त अवसर होता है। मनुष्य को इससे मुक्ति के लिय अपने मनोवेग को नियंत्रित करते हुए, राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्तव्य की भावना से सभी कर्म करने चाहिए। भगवान् भाष्यकार श्रीशंकराचार्य का कथन है कि ''जब मनुष्य प्रतिपक्ष-भावना से राग-द्वेष का संयम कर लेता है, तब केवल शास्त्र दृष्टि वाला हो जाता है, फिर वह प्रकृति के वश में नहीं रहता।'' यदि इन उपायों के उपरान्त भी प्रकृति से परवशता समाप्त नहीं होती है तो साधक को सर्वसमर्थ दयालु परमात्मा की शरण में जाना चाहिए।

मनुष्य का जो स्वयं का धर्म होता है **स्वधर्म** कहलाता है। किसी धर्म के अनुयायियों में सभी के स्वधर्म अलग-अलग हो सकते हैं तथा व्यक्ति विशेष का

आज जो स्वधर्म है देश-काल, परिस्थिति और मनोवृत्ति के परिवर्तन के साथ आगे चलकर दूसरे स्वधर्म का रूप ले सकता है। प्राचीन तथा महाभारत काल में और अभी हाल की शताब्दी तक स्वधर्म निर्धारण में वर्ण व्यवस्था का मुख्य योगदान रहा है किन्तु आज का नवयुवक अपनी प्रक्रति एवं वासनाओं के अनुसार अपनी जीविका तथा कार्य का निर्धारण करता है, अतः वही उसका **स्वधर्म** है। कोई भी व्यक्ति जो अपने को सैनिक, शिक्षक, न्यायाधीश, राजनेता, गुरु अथवा वर्ण व्यवस्था से संबन्धित अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र मानता है, उसे अपने कार्य का पूर्ण निष्ठापूर्वक सम्पादन करना ही उसका स्वधर्म है। अर्जुन क्षत्रिय राजकुमार थे अतः धर्मयुद्ध करना ही उनका स्वधर्म था। गीता यहाँ एक अत्यन्त सारगर्भित बात कहती है कि **परधर्म** अर्थात् **दूसरे का धर्म** यदि स्वधर्म की अपेक्षा अधिक आकर्षक तथा सुख प्रदान करने वाला भी प्रतीत हो तो भी मनुष्य को अपने स्वधर्म में ही अपना कल्याण देखना चाहिए। स्वधर्म पालन करते हुए मृत्यु का वरण करना भी अधिक श्रेयस्कर है।

स्वधर्म पालन में मनुष्य के समक्ष आनेवाली बाधाओं के परिप्रेक्ष्य में अर्जुन की जिज्ञासा है **मनुष्य न चाहते हुए भी बलात् किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है?** यह जिज्ञासा सभी आदर्श जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखने वाले तथा परमार्थ के साधक के समक्ष यक्ष प्रश्न के रूप में उपस्थित है। श्रीभगवान् रजोगुण से उत्पन्न होने वाले **काम** को जिसकी परिणति **क्रोध** में होती है पाप का प्रेरक बताते हैं। काम इतना सशक्त होता है कि वह मनुष्य के इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि में अपना वास स्थान (आश्रय) बना लेता है और इन आश्रय स्थलों के बल पर मनुष्य के ज्ञान तथा विवेक को आच्छादित करके उसे मोहित किए रहता है। कामनाओं की विशेषता है कि अनुकूल भोग प्राप्त होते रहने से भी कभी इनकी तृप्ति नहीं होती बल्कि इनमें अभिवृद्धि ही होती रहती है। श्रीभगवान् काम को वैरी, नित्य वैरी तथा महान पापी कहते हुए अर्जुन को इसे बलपूर्वक मार डालने के लिये उपदेश करते हैं। सामान्य साधक के मन में यहाँ एक शंका आ सकती है कि कामना से ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है और बिना कामना के प्रगति बाधित होती है। शास्त्र तथा स्वयं गीता इसका समाधान करती है; वर्ण, आश्रम, देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार स्वधर्म पालन हेतु आसक्ति रहित कर्तव्य-कर्म करने की कहीं भी मनाही नही है। श्रीमद्भागवत में

कहा गया है धर्म परमार्थ के लिये, अर्थ काम के लिये तथा काम शरीर निर्वाह के लिये होना चाहिए।

काम को मार डालने अर्थात् उसके नाश करने का तात्पर्य उसका भलीप्रकार से त्याग करने से है। कारण कि शस्त्रों से काम का लौकिक हनन सम्भव नहीं है तथा वस्तुतः इस हनन विधि से यह क्रिया घट भी नहीं सकती। अतः काम का त्याग ही उसे मार डालना अथवा उसका नाश करना है।

गीता में काम को त्यागने की विधि का स्पष्ठ तथा तात्त्विक वर्णन है। सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करने की बात कही गई है। इसका कारण यह है कि इन्द्रियों का ही विषयों से सीधा सम्पर्क होता है तथा काम, इन्द्रियों के माध यम से ही मन-बुद्धि में प्रवेश करता है। आगे निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये तथा सम्यक समाधान के लिये इस तथ्य का उद्‌घोष है कि स्थूल शरीर से श्रेष्ठ इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धि से भी जो परम श्रेष्ठ, सभी से सूक्ष्माति-सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है वह आत्मा है। पुनःआत्मा की इन विशेषताओं को जानकर बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके कामरूप दुर्जय शत्रु का त्याग किया जा सकता है।

पहले इन्द्रियों को वश में करने की बात कह कर पुनः बुद्धि द्वारा मन को वश में करने हेतु कहने का भाव यह है कि मन ही इन्द्रियों का प्रकाशक है तथा मन के सहयोग के बिना इन्द्रियाँ चलायमान नहीं हो सकती है अतः केन्द्र बिन्दु मन होता है जो बुद्धि के निश्चय अनुसार कार्य करता है।

आत्मा स्वयं अक्रिय है किन्तु सृष्टि के समस्त, प्राणी, उनके शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आत्मा की ही शक्ति से तथा उससे सत्ता स्फूर्ति पाकर क्रियाशील होकर कार्य करते हैं। आत्मा जो मात्र साक्षी है की सभी क्रियायें, माया के कार्य शरीरों तथा उनके अवयवों के माध्यम से होती हैं। आत्मा के कार्य करने का यही तरीका है। अतः मुख्याति-मुख्य तथा परम श्रेष्ठ आत्मा ही है और कामना का त्याग भी आत्मा के आश्रय से ही होता है।